हमारा भारत

स्वामी विवेकानन्द



श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर-१
म प्र

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली नागपुर-1 म प्र

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृति-ग्रन्थमाला
पुष्प ४८ वाँ

मुद्रक—
रामगोपाल गिरधारीलाल श्रीवास,
बजरंग मुद्रणालय
जनरलगंज ग नं १ नागपुर।

मूल्य ॥)

वक्तव्य



'हमारा भारत' स्वामी विवेकानन्दजी के तीन लेखों का संग्रह है। स्वामीजी शिकागो-सर्व-धर्म-परिषद् में आन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर लेने के बाद जब यूरोपीय देशों में भ्रमण कर रहे थे तब उन्हें प्राच्यविद् मैक्समूलर तथा डॉक्टर पॉल डॉयसन से मिलने का शुभावसर प्राप्त हुआ था। इन दोनों का भारत पर आन्तरिक प्रेम, संस्कृत भाषा में उनका महान् पाण्डित्य तथा भारतीय दर्शन के महान् सार्वभौमिक तत्त्वों को सर्वप्रथम पाश्चात्यों के समक्ष घोषित करने का उनका उत्कट उद्यम देखकर स्वामीजी अत्यन्त प्रभावित हुए थे। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम दो अध्याय ब्रह्मवादिन् पत्र के सम्पादक को प्रकाशनार्थ भेजे गए वही दो लेख हैं जो स्वामीजी द्वारा मैक्समूलर तथा पॉल डॉयसन पर लिखे गये थे तथा खेतड़ी के महाराजा द्वारा समर्पित किये गए अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में स्वामीजी ने उनको जो पत्र लिखा था वही इस पुस्तक का तीसरा अध्याय है। स्वामीजी ने अभिनन्दन पत्र के उत्तर में यह स्पष्ट रूप से दर्शा दिया है कि भारत का प्राण धर्म में अवस्थित है और जब तक यह अक्षुण्ण बना रहेगा तब तक विश्व की कोई भी शक्ति इसका विनाश नहीं कर सकती। उन्होंने बड़ी ही मर्मस्पर्शी भाषा में भारत की अवनति का कारण चित्रित किया है तथा यह बता दिया है कि केवल भारत को ही नहीं वरन् सारे संसार को विनाश के गर्त में पतित होने से यदि कोई बचा सकता है तो वह है वेदान्त का शाश्वत संदेश।

ये तीनों लेख मूल अंग्रेजी में हैं। अनुवाद का श्रेय प्राध्यापक श्री सुशील कुमार जैन एम. ए. को है जिनके इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी जनता का विशेष हित होगा।

नागपुर,
दि. १ १ १९५२

प्रकाशक



स्वामी विवेकानन्द

हमारा भारत



प्रथम अध्याय

भारतबन्धु प्राध्यापक मैक्समूलर *

यद्यपि हमारे 'ब्रह्मवादिन्' के लिए कर्म का आदर्श सदैव ही यह रहेगा कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् "कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं," किन्तु फिर भी किसी निःस्वार्थ कर्मी के कर्मक्षेत्र से विदा होने के पहले हम उसका कुछ न कुछ परिचय प्राप्त कर ही लेते हैं।

हमारे कार्य का प्रारम्भ बहुत ही अच्छा हुआ है और हमार

* ब्रह्मवादिन् पत्र के सम्पादक को भेजा हुआ लेख।

मित्रों ने इस विषय में जो दृढ़ आन्तरिकता प्रदर्शित की है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। निष्कपट विश्वास एवं सदुद्देश्य निश्चय ही जय-लाभ करेंगे, और इन दोनों अस्त्रों से सुसज्जित होने पर अल्प-संख्यक लोग भी समस्त विघ्न-बाधाओं को पराजित करने में समर्थ होंगे।

जो कपटी है, जो अलौकिक-ज्ञान के अभिमानी हैं, उन सबसे सर्वदा ही दूर रहना, बात यह नहीं है कि अलौकिक-ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, पर, मेरे मित्रो, हमारे इस संसार में ऐसे व्यक्तियों में से नब्बे प्रतिशत के अन्दर काम, कांचन और यश-स्पृहारूप गुप्त अभिसन्धि विद्यमान है, और शेष दस प्रतिशत में से नौ प्रतिशत व्यक्तियों की दशा तो पागलों जैसी है —— वे डाक्टरों तथा वैद्यों के लिए विशेष आलोचना के विषय हैं, दार्शनिकों के लिए नहीं।

हमारी प्रथम और प्रधान आवश्यकता है —— चरित्र-गठन, जिसे हम 'प्रतिष्ठित प्रज्ञा' के नाम से अभिहित करते हैं। यह जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति-समष्टि समाज में भी इसकी आवश्यकता है। संसार हरएक नये प्रयत्न को, यहाँ तक कि धर्म-प्रचार के नये उद्यम को भी सन्देह की दृष्टि से देखता है, अतः इससे तुम्हें विरक्त न हो जाना चाहिए। यह बेचारा अज्ञानान्धकार में डूबा संसार !—— यह तो कितनी ही बार छला गया है! किसी नये सम्प्रदाय की ओर संसार जितना ही सन्देह की दृष्टि से देखेगा अथवा उसके प्रति वैमनस्य दिखलाएगा, वह उतना ही उस

सम्प्रदाय के लिए कल्याणकारी है। यदि उस सम्प्रदाय में प्रचार के योग्य कोई सत्य हो, यदि वास्तव में किसी अभाव को हटाने के लिए उसका जन्म हुआ हो तो शीघ्र ही निन्दा प्रशंसा में परिवर्तित हो जाती है एवं घृणा प्रेम का स्वरूप धारण कर लेती है। आजकल लोग प्राय धर्म को किसी प्रकार की सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में लेते हैं। इस विषय में सावधान रहना। धर्म का उद्देश्य धर्म ही है। जो धर्म केवल सांसारिक सुख का साधन मात्र है, वह अन्य चाहे जो कुछ भी हो, पर धर्म नहीं है। और यह कहना कि बेरोक-टोक इन्द्रिय-सुख-भोग के अतिरिक्त मनुष्य-जीवन का और कोई उद्देश्य नहीं है, नितान्त धर्म-विरुद्ध है — ईश्वर एवं मनुष्यप्रकृति के विरुद्ध भयङ्कर अपराध है।

जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और निःस्वार्थपरता विद्यमान हैं उन्हें स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल की कोई भी शक्ति कोई क्षति नहीं पहुँचा सकती। इन गुणों के रहने पर, चाहे समस्त विश्व ही किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो जाय, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है।

किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय के साथ सस्ता समझौता न कर बैठना, सबसे पहले इसी विषय में सावधान रहना होगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी के साथ विरोध करना होगा, किन्तु सुख में हो या दुःख में, अपना भाव सदैव स्थिर रखो, अपना दल बढ़ाने के उद्देश्य से दूसरों के ख्याल के अनुसार मत चलो। तुम्हारी आत्मा

ही तो समस्त ब्रह्माण्ड का आश्रयस्वरूप है, तुम्हारे लिए दूसरे के आश्रय का क्या प्रयोजन? सहिष्णुता, प्रेम एवं दृढ़ता के साथ प्रतीक्षा करो; यदि इस समय कोई सहायक न मिला तो उचित समय पर अवश्य मिलेगा। शीघ्रता करने की क्या आवश्यकता है! सभी महान् कार्यों के आरम्भ के समय उनकी कार्यशक्ति का अस्तित्व मानो मालूम ही नहीं पड़ता — पर उसी दशा में वास्तव में उनमें यथार्थ कार्यशक्ति संचित रहती है।

किसने सोचा था कि बंगाल के एक सुदूर गाँव में रहनेवाले एक निर्धन ब्राह्मण-परिवारजात बालक के जीवन और उपदेशों को इस कुछ ही वर्षों में ऐसे दूर देश के लोग जान सकेंगे जिनके बारे में हमारे पूर्वजों ने कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा? मैं भगवान श्रीरामकृष्ण के विषय में कह रहा हूँ। तुमने क्या यह सुना है कि प्राध्यापक मैक्समूलर ने 'नाइनटीन्थ सेन्चुरी' नामक अंग्रेजी पत्रिका में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में एक लेख लिखा है, एवं यदि उपयुक्त सामग्री उन्हें मिले तो बड़े हर्ष से उनकी जीवनी तथा उपदेशों का एक और भी विस्तृत विवरणयुक्त ग्रन्थ लिखने के लिए वे प्रस्तुत हैं? प्राध्यापक मैक्समूलर एक असाधारण व्यक्ति हैं। मैं कुछ दिन पहले उनसे मिलने गया था। वास्तव में तो यह कहना उचित होगा कि मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने गया था, क्योंकि जो कोई भी व्यक्ति श्रीरामकृष्ण से श्रद्धा एवं प्रेम करते हैं, वे स्त्री हों या पुरुष, वे चाहे जिस किसी भी सम्प्रदाय, मत अथवा जाति के हों, उनका दर्शन

करने जाना मैं तीर्थयात्रा के समान समझता हूँ। "मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः"—"मेरे भक्तों के जो भक्त हैं वे मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।" क्या यह सत्य नहीं है?

प्राध्यापक महोदय पहले इस बात का अनुसन्धान करने में प्रवृत्त हुए कि किस शक्ति के द्वारा ब्राह्मसमाज के बड़े नेता स्वर्गीय केशवचन्द्र सेन के जीवन में सहसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया; और तभी से वे श्रीरामकृष्णदेव के जीवन एवं उपदेशों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गए हैं तथा उनकी चर्चा किया करते हैं। मैंने कहा, "प्राध्यापकजी, आजकल सहस्रों लोग रामकृष्ण की पूजा कर रहे हैं।" प्राध्यापकजी ने प्रत्युत्तर में कहा, "यदि लोग ऐसे व्यक्ति की पूजा नहीं करेंगे तो और किसकी करेंगे?" प्राध्यापकजी स्वयं सहृदयता की मूर्ति थे। उन्होंने स्टर्डी साहब को तथा मुझे अपने साथ जलपान करने के लिए निमन्त्रण दिया, और फिर उन्होंने हमें बॉडलियन पुस्तकालय (Bodleian Library) तथा ऑक्सफोर्ड के कई कालेज दिखलाये। वे हम लोगों को रेल्वे स्टेशन तक पहुँचाने के लिए भी आए, और जब हमने उनसे पूछा कि वे हमारे आराम और सुख के लिए इतना सब क्यों कर रहे हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया "रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य के साथ हमारी प्रतिदिन भेंट तो नहीं होती!" वास्तव में मैंने यह एक नई बात सुनी। सुन्दर पुष्पों से लदे हुए पौधों तथा लताओं से युक्त रमणीक उद्यान के बीच उनका वह मकान छोटा सा था, सत्तर वर्ष की आयु होते हुए भी वह स्थिर प्रसन्न मुख, बालसुलभ कोमल ललाट, रजतशुभ्र केश,

ऋषि-हृदय के अन्तस्तल में स्थित गंभीर आध्यात्मिक-निधि की अभिव्यक्ति-सूचक उनके मुख की प्रत्येक रेखा, उनकी जीवनसंगिनी के यथानाम सहधर्मिणी, उनके निवास-स्थान का वह निस्तब्ध शान्त वातावरण एवं विस्तृत निर्मल अनन्त आकाश — ये समस्त सम्मिलित हो मेरी कल्पना को भारत के उस प्राचीन गौरवशाली युग में खींच ले गए जब भारत ब्रह्मर्षि और राजर्षियों का, यथाशय वानप्रस्थियों का तथा अरुन्धती और वशिष्ठादिकों का निवास-स्थल था। प्राध्यापक महोदय का जीवन प्राचीन भारत के ऋषियों की चिन्ताराशि के प्रति सहानुभूति जागृत करने तथा उसके प्रति लोगों के विराग एवं घृणा को नष्ट कर श्रद्धा उत्पन्न करने के दीर्घकाल में सम्पन्न होनेवाले कठोर कार्य में ही संलग्न था।

मैंने उन्हें एक भाषातत्त्ववित् अथवा पण्डित के रूप में नहीं देखा, मैंने तो देखा मानो कोई आत्मा दिन-प्रतिदिन ब्रह्म के साथ अपना एकत्व अनुभव कर रही है, मानो कोई हृदय अनन्त के साथ एकरूप होने के लिए प्रतिक्षण प्रसारित हो रहा है। जहाँ अन्य लोगों ने शुष्क अप्रयोजनीय तत्त्व-विचाररूपी मरुभूमि में दिग्भ्रान्त हो स्वयं को खो दिया है, वहीं से उन्होंने अमृतस्रोत बहाया है। उनकी हृदयध्वनि मानो उपनिषद् के उस सुर में, उस ताल में ध्वनित हो रही है जो गम्भीर अमृतमयी वाणी से घोषणा कर रही है — "तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ," — "एकमात्र आत्मा को ही जान लो और अन्य सब बातें त्याग दो।"

समग्र जगत् को शिक्षा देनेवाले पण्डित एवं दार्शनिक होने पर भी उनके पाण्डित्य और दर्शन ने उन्हें उच्च से उच्चतर स्तर की ओर ले जाकर आत्म-दर्शन में समर्थ किया है। उनकी अपरा-विद्या वास्तव में उनके परा-विद्या-लाभ में सहायक हुई है। यही है प्रकृत विद्या। 'विद्या ददाति विनयं'—ज्ञान से ही विनय की प्राप्ति होती है। यदि ज्ञान हमें उस परात्पर के निकट न ले जाय, तो फिर ज्ञान की उपयोगिता ही क्या!

और फिर उनका भारत पर अनुराग भी कितना है! मेरा अनुराग यदि उसका एक प्रतिशत भी रहता, तो मैं अपने को धन्य समझता! ये असाधारण मनस्वी पचास या उससे भी अधिक वर्ष से भारतीय विचार-राज्य में निवास तथा विचरण कर रहे हैं, और उन्होंने इतनी श्रद्धा एवं हार्दिक प्रेम के साथ संस्कृत-साहित्य की सेवा की है कि अन्त में वह उनके हृदय में ही पैठ गया है एवं मानो उनका सर्वांग ही उसमें रंग गया है।

मैक्समूलर एक घुद्ध वैदान्तिक हैं। सचमुच ही उन्होंने वेदान्त के सुर बेसुर भिन्न भिन्न भावों के भीतर उसकी प्रकृत तान को पहचाना है—उस वेदान्त के, जो पृथ्वी के समस्त सम्प्रदायों एवं विचारों को प्रकाशित करनेवाला एकमात्र आलोक है और समस्त धर्म जिसके भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। और रामकृष्ण परमहंस कौन थे?—वे थे इसी प्राचीन तत्त्व के प्रत्यक्ष उदाहरणस्वरूप, प्राचीन भारत

के ज्वलन्त मूर्तस्वरूप, अभिनव-भारत के पूर्वाभासस्वरूप एवं समस्त जातियों के समग्र आध्यात्मिक आलोकग्राहकस्वरूप! यह एक मानी हुई बात है कि जौहरी ही रत्नों की परख कर सकता है। अत यदि इस पाश्चात्य ऋषि ने भारतीय विचार-गगन में किसी नव नक्षत्र के उदित होने से — इसके पहले कि भारतवासी उसका महत्व समझ सकें — उसकी ओर आकृष्ट होकर उसकी विशेष पर्यालोचना की हो तो क्या यह विस्मय की बात है!

मैंने उनसे कहा, "आप भारत में कब आ रहे हैं! भारतवासियों के पूर्वजों की चिन्ताराशि को आपने यथार्थ रूप में लोगों के सामने प्रकट किया है, अत यहाँ के सभी लोग आपके शुभागमन से आनन्दित हो उठेंगे।" वृद्ध ऋषि का मुख उज्ज्वल हो उठा, उनके नेत्रों से अश्रु-बिन्दु निकल पड़े और नम्रता से सिर हिलाकर उन्होंने धीरे धीरे कहा, "तब तो मैं वापस नहीं आऊँगा; तुम लोगों को मेरा दाह-संस्कार वहीं कर देना होगा।" आगे और अधिक प्रश्न करना मुझे मानव-हृदय के पवित्र रहस्यपूर्ण राज्य में अनधिकार प्रवेश करने की चेष्टा की भाँति प्रतीत हुआ। कौन जाने, कवि ने जो कहा था वह यही हो —

"तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥"

"वे निश्चय ही, अज्ञातरूप से हृदय में दृढ़-निबद्ध, पूर्व-जन्म की मित्रता की बातें सोच रहे हैं।"

उनका जीवन संसार के लिए परम मंगलकारी रहा है। भगवान से यही प्रार्थना है कि वे और अनेकों वर्ष जीवित रहें।

द्वितीय अध्याय

भारतबन्धु डॉक्टर पॉल डयूसन *

दस वर्ष से भी अधिक पहले की बात है, किसी एक साधारण आमदनीवाले जर्मन पादरी के परिवार में उनकी आठ सन्तानों में सबसे होनहार एक अल्पवयस्क बालक ने अपने विद्यार्थी-जीवन में एक दिन प्राध्यापक ल्यासन को एक नई भाषा — संस्कृत — और उसके साहित्य के विषय में भाषण देते हुए सुना। उस समय संस्कृत भाषा और साहित्य यूरोपीय विद्वानों के लिए बिलकुल ही नया था। इस

* ब्रह्मवादिन्' पत्र के सम्पादक को भेजा हुआ लेख, (१८९६)

भाषणों को सुनने में दाम तो लगते नहीं थे, क्योंकि अभी भी किसी व्यक्ति के लिए यूरोप के किसी विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाकर रुपया कमाना असम्भव है; पर यदि विश्वविद्यालय उनको इस कार्य के लिए विशेष सहायता प्रदान करता हो तो वह एक दूसरी बात है।

प्राध्यापक स्पायसन जर्मनी के संस्कृत भाषा के अध्यापकों में अग्रगण्य थे। वे वीरहृदय जर्मन पण्डितों के लगभग अन्तिम प्रतिनिधि थे। ये पण्डित लोग वास्तव में वीर पुरुष थ, क्योंकि विद्या के प्रति पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम के अतिरिक्त उस समय जर्मन विद्वानों के भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट होने का और कौनसा कारण हो सकता था! विद्वान प्राध्यापक स्पायसन एक दिन कालिदासविरचित 'शाकुन्तल' के एक अध्याय की व्याख्या कर रहे थे, और उस दिन हमारा यह युवक विद्यार्थी जिस ध्यान और उत्सुकता के साथ उनके द्वारा बतलाई गई व्याख्या को सुन रहा था, उतना तन्मय श्रोता शायद वहाँ और कोई न था। व्याख्या का विषय अवश्य ही अत्यन्त हृदयग्राही एवं अद्भुत प्रतीत हो रहा था, पर सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि एक यूरोपीय व्यक्ति के अनभ्यस्त मुख से उच्चारित होने के कारण उस अपरिचित शब्दराशि के विकृत रूप धारण कर लेने पर भी उस बालक को उन शब्दों ने मन्त्रमुग्ध-सा कर दिया था। वह अपने घर वापस गया, किन्तु उसने जो कुछ सुना था उसे वह रात में नींद में भी भूल न सका। उसने मानो इतने दिनों के अज्ञात, अपरिचित देश का सहसा दर्शन पा लिया, और उसे ऐसा प्रतीत हुआ

कि मानो यह देश उसके देखे हुए अन्य सब देशों की अपेक्षा अधिक प्रज्ज्वल रंग-बिरंगों से चित्रित है, तथा उसने उसमें वैसी मोहिनी-शक्ति पाई, वैसा उसके युवक-हृदय ने और कभी भी अनुभव नहीं किया था।

इस होनहार युवक के मित्रों का उससे बहुत कुछ आशा रखना स्वाभाविक ही था। वे तो उत्कण्ठापूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब इस युवक की स्वाभाविक प्रबल शक्तियाँ प्रस्फुटित हो उठेंगी तथा जिस दिन यह युवक एक बड़े प्राध्यापक के पद पर उच्च वैभव का अधिकारी होकर साधारण लोगों से श्रद्धा और आदर प्राप्त करेगा। किन्तु कहाँ से बीच में संस्कृत भाषा का यह झंझट आ खड़ा हुआ! अधिकांश यूरोपीय विद्वानों ने तो उस समय संस्कृत भाषा का नाम ही नहीं सुना था——इससे अर्थ-प्राप्ति की बात तो दूर ही रही। मैंने पहले ही कहा है कि संस्कृत भाषा का विद्वान् होकर द्रव्योपार्जन पश्चिमी देशों में अभी भी एक असम्भव-सा कार्य है; फिर पर भी हमारे इस युवक की संस्कृत सीखने की इच्छा बड़ी प्रबल हो उठी। यह बड़े दुःख की बात है, हम आधुनिक भारतीयों के लिए यह समझना अत्यन्त कठिन हो गया है कि विद्या के लिए ही विद्याभ्यास किस प्रकार हो सकता है। फिर भी, नवद्वीप, बनारस एवं भारत के अन्यान्य स्थानों के पण्डितों में, विशेषकर सन्यासियों में हम आज भी ऐसे वृद्ध और युवक देख सकते हैं जो विद्या के लिए ही विद्याभ्यास में रत हैं——ज्ञान के लिए ही ज्ञानलाभ की तृष्णा में उन्मत्त हैं। ऐसे विद्यार्थी

जिन्हें आधुनिक यूरोपीय भाषाएँ हिन्दुओं की शिक्षा-सामग्रियों का अभाव होने पर भी तथा उनकी अपेक्षा अध्ययन के लिए सहस्र गुना कम सुविधायें उपलब्ध रहने पर भी या रात पर रात तैल-दीप की अस्थिर धीमी प्रकाश में हस्तलिखित ग्रन्थों का इतनी एकाग्रता से अध्ययन करते रहते हैं जिससे अन्य किसी भी देश के छात्रों की आँखों की दृष्टि-शक्ति सम्पूर्ण नष्ट हो सकती है, ऐसे विद्यार्थी जो किसी दुर्लभ हस्त-लिखित ग्रन्थ या किसी विख्यात अध्यापक की खोज में कोसों भिक्षा पर ही निर्वाह करते हुए पैदल चले जाते हैं एवं जो अपने मन और शरीर की समुन्न शक्ति अपने प्रत्य विषय में तब तक नियोजित करते रहते हैं जब तक उनके बाल सफेद नहीं हो जाते तथा उनका शरीर अधिक आयु होने के कारण क्षीण नहीं हो जाता — ऐसे विद्यार्थी ईश्वर की कृपा से अभी तक हमारे देश से बिलकुल ही लुप्त नहीं हो गए हैं। आज भारत जिसको अपनी मूल्यवान सम्पत्ति कहकर गौरव अनुभव करता है, वह निश्चय ही अतीत काल की उसकी योग्य सन्तानों के इस प्रकार के परिश्रम का फलस्वरूप है; और इस कथन की सत्यता तुरन्त ही प्रकट हो जायेगी यदि हम प्राचीन युग के भारतीय पण्डितों के पाण्डित्य की गम्भीरता एवं व्यापकता तथा उनके निःस्वार्थभाव एवं ज्ञान की एकाग्रता की तुलना आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा के परिणामों के साथ करें। यदि भारतवासी अपने अतीत युग के इतिहास की भाँति फिर से अन्यान्य जातियों के बीच अपने समुचित गौरव-पद पर आसीन होना चाहते हैं, तो उन्हें

अपने जीवन में शुद्ध निष्कपट चिन्तनशक्ति तथा यथार्थ पाण्डित्य-लाभ के लिए स्वार्थहीन निष्कपट उत्साह को पुनः प्रबल रूप से जगाना पड़ेगा। इस प्रकार की ज्ञानस्पृहा ने ही जर्मनी को संसार के श्रेष्ठ राष्ट्रों की श्रेणी में ला दिया है — भले ही वह सब जातियों में श्रेष्ठतम न हुआ हो।

अस्तु। मैं कह रहा था कि इस जर्मन छात्र के हृदय में संस्कृत शिक्षा के प्रति अनुराग बड़ा प्रबल हो उठा था। संस्कृत सीखना तो दीर्घकाल में सम्पन्न होनेवाला कार्य है, पहाड़ पर चढ़ने जैसा कठिन है। इस जर्मन छात्र के जीवन का इतिहास भी जगत्प्रसिद्ध अन्य सफल विद्यार्थियों की भाँति है, — उन सब लोगों के समान यह युवक भी कठोर परिश्रम कर, अनेकों कष्ट सहकर, अदम्य उत्साह के साथ अपने व्रत में दृढ़तापूर्वक लगा रहा और इसके फलस्वरूप वह यथार्थ वीरमनोचित सफलता के गौरवमुकुट से विभूषित हुआ। और अब, केवल यूरोप ही नहीं वरन् समस्त भारतवर्ष इस कील (Kiel) विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक पॉल डयूसन को जानता है। मैंने अमेरिका और यूरोप में संस्कृत के कई प्राध्यापकों को देखा है। उनमें से अनेक वेदान्त की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हैं। मैं उनके पाण्डित्य एवं निःस्वार्थ कार्य में जीवनोत्सर्ग को देखकर मुग्ध हो गया हूँ। परन्तु पॉल डयूसन (या संस्कृत में स्वयं को देवसेन कहकर सम्बोधित होना पसन्द करते हैं) और वृद्ध मैक्समूलर को मैं भारत तथा भारतीय विचारधारा का सर्वापेक्षा आन्तरिक एवं यथार्थ मित्र समझता हूँ। कील शहर के इस उत्साही वेदान्तिक, उनके भारत-भ्रमण की

संगिनी उनकी मधुर प्रकृतिवाली सहधर्मिणी तथा उनकी प्रिय छोटी कन्या से मेरी प्रथम भेंट, जर्मनी और हॉलैण्ड होकर हमारी एक साथ लन्दन की यात्रा तथा लन्दन एवं उसके आसपास के स्थानों में हम लोगों का आनन्ददायक सम्मिलन — ये सब घटनायें मेरे जीवन की अन्य मधुर स्मृतियों के साथ चिरकाल तक बनी रहेंगी।

यूरोप के सर्वप्रथम संस्कृतज्ञों की संस्कृत-चर्चा में समालोचना-शक्ति की अपेक्षा कल्पना शक्ति अधिक थी। उनका ज्ञान तो अल्प था, किन्तु उस अल्प ज्ञान से वे आशा बहुत करते थे; और बहुधा वे जो कुछ थोड़ा-बहुत जानते उससे कहीं अधिक डींग मारा करते थे। फिर, उस समय कालिदासविरचित 'शाकुन्तल' को ही भारतीय दर्शनशास्त्र का चरम सिद्धान्त सोचने का पागलपन भी उनमें समाया हुआ था। अत स्वाभाविकतया ही, प्रथम दल की प्रतिक्रिया के रूप में एक ऐसे स्थूलदर्शी समालोचक-सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ जिसे न तो संस्कृत का ज्ञान ही था और न संस्कृत के अध्ययन से विशेष कुछ लाभ की आशा ही दीख पड़ती थी, और यह सम्प्रदाय ऐसा था जो प्राच्यदेशीय सभी वस्तुओं का उपहास किया करता था। यद्यपि इस सम्प्रदाय के लोग प्रथम दल की कल्पनापूर्ण दृष्टि की, जिसके समक्ष भारतीय साहित्य की प्रत्येक वस्तु नन्दनकानन की भाँति प्रतीत होती थी, तीव्र आलोचना करते थे, परन्तु इनके स्वयं के सिद्धान्त प्रथम दलवालों के सिद्धान्तों की तरह ही समान रूप से नितान्त अनुपयुक्त एवं असन्त दु साहसपूर्ण थे। और इन लोगों के इस विषय में दु-साहस के बड़

जाने का नितान्त स्वाभाविक कारण यह था कि भारतीय विचारधारा की ओर सहानुभूतिरहित और बिना समझे-बूझे हठात् सिद्धान्त बना डालनेवाले वे पण्डित और समालोचकगण इसकी चर्चा ऐसे श्रोताओं के सामने करते थे जिनको इस विषय में किसी प्रकार की राय प्रकट करने की यदि कोई योग्यता थी तो वह थी उनकी संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में पूर्ण अनभिज्ञता! इस प्रकार के समालोचक पण्डितों के मस्तिष्क से यदि अनेक प्रकार के विरुद्ध सिद्धान्त निकलें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! सहसा बेचारे हिन्दू ने एक दिन सुबह जगकर देखा, उसका जो कुछ भी अपना था वह आज नहीं है — एक अपरिचित जाति ने उसके पास से उसकी शिल्प-विद्या छीन ली है, एक दूसरी ने उसकी स्थापत्य-विद्या एवं एक तीसरी ने उसके समस्त प्राचीन विज्ञान को छीन लिया है, यहाँ तक कि उसका धर्म भी अब उसका अपना नहीं है! इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण मौलिक गवेषणापरम्परा-रूप युग के बाद अभी अपेक्षाकृत अच्छा समय आया है। लोगों ने अब समझा है कि वास्तव में संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन स्वयं किए बिना अथवा उनका समुचित आलोचनात्मक ज्ञान प्राप्त किए बिना केवल अन्दाज से कुछ सिद्धान्त बना लेना, प्राच्यतत्त्व-गवेषणा के क्षेत्र में भी केवल अपनी हँसी ही कराना है, और भारत में जो सब प्रथाएँ बहुत दिनों से प्रचलित हैं उनको भी घमण्ड के साथ हटा देना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है, क्योंकि उनमें ऐसी अनेकों अच्छाइयाँ हैं जिन्हें लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते।

यह बड़े हर्ष की बात है कि यूरोप में आजकल एक नये प्रकार के संस्कृतज्ञ पण्डितों का अभ्युदय हो रहा है—ये श्रद्धालु सहानुभूतिपूर्ण तथा यथार्थ पण्डित हैं। ये श्रद्धालु हैं, क्योंकि ये उच्च विचारवाले हैं; एवं सहानुभूतिसम्पन्न हैं, क्योंकि ये विद्वान् हैं। और हमारे मैक्समूलर ही प्राचीन दल की शृंखला के साथ नये दल की शृंखला को जोड़नेवाली कड़ी के समान हैं। हम हिन्दू लोग पश्चिमदेशीय अन्य संस्कृतज्ञ पण्डितों की अपेक्षा निश्चय ही उनके प्रति अधिक ऋणी हैं, और जब मैं उनके इस महान् कार्य के बारे में सोचता हूँ जिसे उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ अपनी यौवनावस्था में हाथों में लेकर वृद्धावस्था में उसकी सफलतापूर्वक परिसमाप्ति की, तब तो मैं दंग हो जाता हूँ। इसके बारे में एक बार जरा सोचो तो सही, किस प्रकार वे हिन्दुओं की आँखों से भी अति कठिनता से पढ़े जा सकनेवाले अस्पष्ट पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों की दिन-रात छान-बीन कर रहे हैं।—और फिर ये लिपियाँ ऐसी भाषा में लिखी हुई हैं जिन्हें भली प्रकार समझने में एक हिन्दू पण्डित को भी समस्त जीवन-काल लग जायगा; उन्हें फिर ऐसे किसी अभावग्रस्त पण्डित की सहायता भी नहीं मिली है जिसकी बुद्धि कुछ टकों पर खरीदी जा सके तथा 'अत्यन्त नई गवेषणापूर्ण' किसी पुस्तक की भूमिका में जिसके नामोल्लेख द्वारा उस पुस्तक की समाप्ति कराई जा सके। इस व्यक्ति के विषय में और भी जरा सोचकर तो देखो, किस तरह वे सायन-भाष्य के अन्तर्गत किसी शब्द या वाक्य का यथार्थ रीति से पाठ करने एवं ठीक ठीक अर्थ ढूँढ़ निकालने के

लिए कभी दिन पर दिन और कभी महीनों व्यतीत कर (जैसा उन्होंने स्वयं मुझसे कहा है) अन्त में इस दीर्घकाल के अध्यवसाय के फल-स्वरूप वैदिक साहित्यरूपी अरण्य में से होकर अन्य लोगों के जाने के लिए सुगम मार्ग बनाने में सफल हुए हैं; पहले इस व्यक्ति और इनके कार्य के सम्बन्ध में सोचकर देखो और फिर बोलो कि वास्तव में इन्होंने हम लोगों के लिए कितना किया है। यह हो सकता है कि इन्होंने अपनी अनेकों रचनाओं में जो कुछ कहा है, हम उस सबसे सहमत न हों,—और निश्चय ही इस प्रकार पूर्णतया सहमत होना असम्भव है। किन्तु हम सहमत हों या न हों, पर इस सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि हमारे पूर्वपुरुषों के साहित्य की रक्षा, उसका विस्तार एवं उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए हम सबमें जो कोई जितना करने की आशा कर सकते हैं, इस अकेले व्यक्ति ने उससे सहस्र गुना अधिक किया है और यह कार्य इन्होंने अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रेमपूर्ण हृदय के साथ सम्पन्न किया है।

यदि मैक्समूलर को इस नये आन्दोलन का प्राचीन अग्रदूत कहा जाय तो डयूसन निश्चय ही उसके एक नवीन नेता हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। हमारे प्राचीन शास्त्ररूपी खान में जो सब विचार एवं आध्यात्मिकता के अमूल्य रत्न निहित हैं, भाषातत्व की आलोचना की तल्लीनता ने बहुत दिनों तक उनको हमारी दृष्टि से ओझल रखा था। मैक्समूलर उनमें से कई विचारों को जनसाधारण की दृष्टि में लाये, एवं सर्वश्रेष्ठ भाषातत्व-विशारद होने के कारण उनके कथन की

प्रामाण्य-शक्ति इतनी अधिक थी कि जनसाधारण का ध्यान बरबस ही उन विचारों की ओर आकृष्ट हो गया। भाषातत्त्व की आलोचना की ओर डयूसन की कोई रुचि न थी, वरन् वे दर्शन-शास्त्र में पारंगत थे। वे प्राचीन ग्रीक तथा वर्तमान जर्मन तत्त्वालोचना-प्रणाली एवं उनके सिद्धान्तों से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने मैक्समूलर का अनुसरण करके अमन्द साहस के साथ उपनिषद् के गंभीर दार्शनिक तत्त्व-सागर में गोता लगाया, तब उन्होंने देखा कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है वरन् वह हमारी बुद्धिवृत्ति एवं हृदय की माँग पूर्णतया पूरी करता है,—और फिर उन्होंने उसी तरह साहस के साथ उस विषय को समस्त जगत् के सामने घोषित किया। पाश्चात्य पण्डितों में केवल डयूसन ने ही वेदान्त के सम्बन्ध में अपनी राय बहुत स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट की है। अधिकांश पण्डित जिस प्रकार दूसरों की समालोचना के डर से भयभीत रहा करते हैं, उस प्रकार डयूसन ने कभी भी किसी के मतामत की परवाह नहीं की। वास्तव में इस संसार में ऐसे साहसी लोगों की आवश्यकता है जो निर्भीकता के साथ प्रश्न सब के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट कर सकें, और विशेषतः इसकी आवश्यकता यूरोप में अधिक है जहाँ के पण्डितगण — समाजभय से हो अथवा इस प्रकार के अन्य किन्हीं कारणों से — ऐसे सभी विभिन्न धर्ममतों एवं आचार-व्यवहारों का किसी तरह उनकी त्रुटियों को छिपा-कर समर्थन करने की चेष्टा कर रहे हैं जिन सबमें शायद इन लोगों में से बहुतों का ही विश्वास नहीं है। अतएव मैक्समूलर

तथा रचुम्न का इस प्रकार साहसपूर्ण एवं स्पष्ट रूप से उस का समर्थन वास्तव में विशेष रूप से प्रशंसनीय है। मेरी तो यही इच्छा है कि उन्होंने हमारे शास्त्रों के गुणों के प्रदर्शन में जिस साहस का परिचय प्रदान किया है, उसी प्रकार साहस के साथ वे उनके उन उन दोषों को भी प्रदर्शित करें जो परवर्ती काल में भारतीय चिन्ता-प्रणाली में आकर भर गए हैं, विशेषत उन त्रुटियों को जो हमारी सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए उस चिन्ताप्रणाली के प्रयोग के सम्बन्ध में आ गई हैं। आज हमें इनके ही समान यथार्थ मित्रों की सहायता की अत्यधिक आवश्यकता है जो भारत में क्रम-वर्धमान इन द्विविध-गतिशील रोगों की गति का रोध कर सकें, जहाँ एक ओर तो प्राचीन प्रथा में पड़े हुए, दासत्वशृंखला में जकड़े हुए लोग प्राम्य कुसस्कारों को ही शास्त्रों का सार-सत्य समझकर उनसे चिपके रहना चाहते हैं और जहाँ दूसरी ओर हैं शास्त्रों की कटु निन्दा करनेवाले —— जो हमारे और हमारे इतिहास में कुछ भी अच्छाई नहीं देख सकते, और जो यदि हो सके तो धर्म एवं दर्शन की लीलाभूमि हमारी इस प्राचीन जन्मभूमि के समुन्नत आध्यात्मिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठानों को इसी क्षण तोड़-फोड़कर धूल में मिला देने को तत्पर हैं।

तृतीय अध्याय

भारत का वैशिष्ट्य *

"जब जब धर्म की अवनति होती है और अधर्म बढ़ता है तब तब मैं पुनः धर्म की संस्थापना के लिए अवतीर्ण होता हूँ।"

हे राजन्, ये शब्द पवित्र *गीताशास्त्र* में हमारे सनातन भगवान के वाक्य हैं। यह वाक्य संसार में आध्यात्मिक शक्ति-प्रवाह के सनातन उत्थान और पतन के नियमों का मूल मन्त्र-स्वरूप है।

ये सब परिवर्तन बारम्बार संसार में नये नये ताल और छन्दों

---

* राजपूताना के अन्तर्गत खेतड़ी के महाराजा के अभिनन्दन-पत्र का उत्तर, (१८९५)

में प्रकाशित हो रहे हैं और यद्यपि अन्यान्य महान् परिवर्तनों की तरह उनके कार्यक्षेत्र में प्रत्येक क्षुद्र से क्षुद्र वस्तु के ऊपर उनका प्रभाव पड़ रहा है, फिर भी अनुकूल स्थान में ही उनकी कार्यशक्ति का प्रकाश अधिक पाया जाता है।

समष्टि रूप से जिस प्रकार संसार की आदिम अवस्था त्रिगुणों का साम्य-भाव है, उसी प्रकार व्यष्टि रूप से देखने पर मालूम होता है कि इस पृथ्वी पर जब तक मनुष्यजाति वर्तमान रूप में रहेगी तब तक विषमता और उसकी नित्य सहचरी — साम्यलाभ की चेष्टा — दोनों ही साथ साथ चलती रहेंगी। इसके फलस्वरूप संसार में सर्वत्र भिन्न भिन्न जातियों में, उनके बाह्य आचरणों में, यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष विशेषत्व पुष्ट होता रहेगा जिससे कि एक, दूसरे से पृथक् रूप में भलीभाँति जाना जा सकेगा। इस साम्य-भाव की च्युति और उसको पुनः प्राप्त करने के लिए समुद्यम चेष्टा ही इस प्रकृति का विकास या क्रमाण्ड है, और जब तक यह साम्यावस्था पुनः न आ जायेगी, तब तक इसी प्रकार चलता रहेगा।

अतएव निरपेक्ष भाव से, मानो तुला में तौलकर, सभी जातियों को समान शक्ति दी जाने पर भी, प्रत्येक जाति ही मानो किसी विशेष प्रकार के शक्तिसंचय एवं उसके वितरण के उपयोगी एक एक अद्भुत यन्त्र-स्वरूप है, और उस जाति के पास अन्यान्य अनेक शक्तियों के रहने पर भी वही विशेष शक्ति उस जाति के विशेष लक्षण के रूप में उद्भासित होती है। मनुष्यप्रकृति के किसी विशेष भाव के विशेष

विकास तथा उद्दीपन होने पर उसका प्रभाव अल्पाधिक मात्रा में सभी पर होता है, परन्तु जिस जाति का वह भाव विशेष लक्षण है एवं साधारणतः जिसे केन्द्र बनाकर यह उत्पन्न हुआ है, उसी जाति के अन्तस्तल को वह सबसे अधिक आलोड़ित कर देता है। इसी कारण धर्म-जगत में किसी आन्दोलन के उपस्थित होने पर, उसके फलस्वरूप, भारत में अवश्य ही अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रकटित होंगे — उस भारतवर्ष में, जिसको केन्द्र बनाकर बारम्बार धर्म की तरंगें उत्थित हुई हैं, क्योंकि धर्म ही भारत का विशेषत्व है।

प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी वस्तु को सत्य समझता है, जो उसे उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। सांसारिक भावापन्न व्यक्तियों के समक्ष वही वस्तु सत्य है, जिसके विनिमय में उन्हें अर्थ की प्राप्ति होती हो; और जिसके बदले में उन्हें धन-लाभ नहीं होता, वह उनके लिए असत्य है। जिस व्यक्ति की आकांक्षा दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की है, उसके लिए तो सत्य वही है जिसके द्वारा उसकी यह आकांक्षा पूर्ण होती है, और शेष सब उसके लिए निरर्थक है। इसी प्रकार जो वस्तु किसी व्यक्ति की आकांक्षापूर्ति में सहायक नहीं होती, उस वस्तु में वह व्यक्ति किसी प्रकार का सत्य या अर्थ नहीं देख पाता।

जिन व्यक्तियों का एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन की समस्त शक्तियों के विनिमय में कांचन, नाम-यश या अन्य किसी प्रकार के भोग-विलास का अर्जन करना है, जिनके समक्ष रणभूमिगामी दुर्जय समा-दल ही शक्ति के विकास का एकमात्र प्रतीक है, जिनके निकट इन्द्रिय-

सुख ही जीवन का एकमात्र सुख है — ऐसे लोगों के लिए भारत सर्वदा ही एक बड़े मरुस्थल के समान प्रतीत होगा, यहाँ की आँधी का एक झोंका ही उनकी कल्पित जीवन-विकास की धारणा के लिए मानो मृत्युस्वरूप है।

किन्तु जिन व्यक्तियों की जीवन-तृष्णा इन्द्रिय-जगत् से सुदूर स्थित अमृतसरिता के दिव्य सलिल-पान से सम्पूर्णतः सुप्त चुकी है, जिनकी आत्मा ने—सर्प के केंचुल-त्याग की तरह—काम, कांचन और यश-स्पृहा के त्रिविध बन्धनों को दूर फेंक दिया है, जिनका मन शान्ति की अत्युच्च शिखा पर पहुँच गया है और जो वहाँ से इन्द्रिय-भोगों में आबद्ध तथा नीचजनोचित कलह, विषाद और द्वेष-हिंसा में रत व्यक्तियों को प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, जिनके संचित पूर्व सत्कर्म के प्रभाव से आँखों के सामने से अज्ञान का आवरण सुप्त हो गया है जिससे वे असार नाम-रूप को भेद कर प्रकृत सत्य का दर्शन करने में समर्थ हुए हैं,—ऐसे व्यक्ति कहीं भी क्यों न रहें, आध्यात्मिकता की जननी एवं अनन्त शान्ति-स्वरूप भारतवर्ष उनके समक्ष भिन्न रूप में, अधिक महिमान्वित और उज्ज्वल भासित होगा। इस मायावी जगत् में जो एकमात्र प्रकृत सत्ता है, उसके अनुसन्धान में रत प्रत्येक व्यक्ति के लिए भारतवर्ष आशा की एक प्रज्वलित शिखा है।

अधिकांश मनुष्य शक्ति को उसी समय शक्ति समझते हैं जब वह उनके अनुभव के योग्य होकर स्थूलाकार में उनके सामने प्रकट हो

जाती है। उनकी दृष्टि में समरांगण में तलवारों की झनझनाहट आदि ही खूब स्पष्ट प्रत्यक्ष शक्ति के विकास मालूम होते हैं; और जो आँधी की भाँति सामने से चीजों को तोड़ मोड़कर उथल-पुथल पैदा न कर देती हो, वह उनकी दृष्टि में शक्ति का विकास नहीं है — वह तो मानो जीवन का परिचायक न होकर मृत्युस्वरूप है। इसीलिये शताब्दियों से विदेशियों द्वारा शासित एवं निश्चेष्ट, एकताहीन एवं स्वदेशहितैषिताशून्य भारतवर्ष उनके निकट ऐसा प्रतीत होगा मानो वह गलित अस्थि चर्मों से ढँकी हुई भूमि मात्र हो।

ऐसा कहा जाता है — योग्यतम ही जीवन-संग्राम में विजयी होता है। तब फिर प्रश्न उठता है कि साधारण धारणानुसार यह जो जाति अन्य जातियों की अपेक्षा नितान्त अयोग्य है, उसके दारुण जातीय दुर्भाग्यचक्र में फँस जाने पर भी विनाश का कोई चिह्न दिखाई क्यों नहीं देता? तथाकथित वीर्यवान् और कर्मपरायण जातियों की शक्ति जिस प्रकार एक ओर प्रतिदिन कम होती जा रही है, उसी प्रकार दूसरी ओर दुर्नीतिपरायण (!) हिन्दुओं की शक्ति का विकास सर्वापेक्षा अधिक हो रहा है — यह किस प्रकार होता है? जो लोग एक पल में समस्त विश्व को रक्तरंजित कर सकते हैं, उनके लिये तारीफ की झड़ी लग सकती है; जो लोग कुछ लाख लोगों के सुख के लिए संसार के अधिकांश लोगों को भूखा मार सकते हैं वे भी गौरवान्वित हो सकते हैं, किन्तु जो लोग अन्य लोगों का अन्न न छीनकर लाखों मनुष्यों को सुख और शान्ति प्रदान करते हैं, वे क्या किसी प्रकार का

सम्मान प्राप्त करने योग्य नहीं हैं ! शताब्दियों से दूसरों के ऊपर किसी भी प्रकार का अत्याचार न करके कार्यों के भाग्य का संचालन करनेवालों के कार्य में क्या किसी प्रकार की शक्ति का विकास प्रकट नहीं होता !

सभी प्राचीन जातियों के ग्रंथों में, उनके वीरों की गाथाओं में यह देखा जाता है कि उनका प्राण उनके शरीर के किसी विशेष छोटे से अंश में आबद्ध रहा था; और जब तक उनका वह अंश अरक्षित रहा तब तक वे अजेय रहे। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि मानो प्रत्येक जाति में ही किसी विशेष स्थान में उसकी जीवनीशक्ति संचित रहती है; और जब तक वह स्थान अक्षुण्ण बना रहेगा तब तक किसी प्रकार का दुःख या विपत्ति उस जाति का विनाश नहीं कर सकती।

धर्म ही है भारत की यह जीवनीशक्ति; और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त ज्ञानराशि को स्मरण रखेगी, तब तक संसार में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो उसका ध्वंस कर सके।

जो व्यक्ति हमेशा अपनी जाति के प्राचीन कार्य-कलापों की आलोचना करता है, आजकल सभी लोग उसकी निन्दा किया करते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की आलोचना करने के कारण ही हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दुःख और आपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं। किन्तु मेरी तो यह धारणा है कि इसका विपरीत ही सत्य है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत के गौरव को, अपने अतीत

के इतिहास को भूली हुई थी, तब तक यह ज्ञानहीन अवस्था में पड़ी रही। और अब अतीत काल की जितनी ही आलोचना हो रही है, उतना ही नई और पुनर्जीवन के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा।

अतएव हिन्दू लोग अतीत के इतिहास की जितनी ही आलोचना करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा; और जो कोई भी इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहे हैं, वे ही स्वजाति के परम हितकारी हैं। भारत की अवनति इसलिये नहीं हुई कि हमारे पूर्वपुरुषों के नियम एवं आचार-व्यवहार खराब थे, वरन् उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार-व्यवहारों का न्यायसंगत जो परिणाम होना चाहिए था, उनमें उसको परिणत नहीं होने दिया गया।

भारतवर्ष का इतिहास पढ़नेवाला प्रत्येक विचारशील पाठक यह जानता है कि भारत के सामाजिक विधान प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित हुए हैं।

आरम्भ से ही ये नियम क्रमाभिव्यज्यमान एक विराट उद्देश्य को तात्कालीन समाज में फलीभूत करने की चेष्टा में तत्पर रहे। प्राचीन भारत के ऋषिगण इतने दूरदर्शी थे कि उनकी ज्ञानराशि के महत्व को समझने में जगत को अब भी शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, और उनके वंशजों द्वारा इस महान् उद्देश्य का पूर्ण रूप से ग्रहण करने की यह अक्षमता ही भारत की अवनति का एकमात्र कारण है।

प्राचीन भारत सदियों तक ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने इन दो सर्वप्रधान जातियों की उच्चाभिलाष पूर्ण उद्देश्यपूर्ति के लिये एक युद्धक्षेत्र रहा था।

एक ओर ब्राह्मणगण साधारण प्रजा पर क्षत्रियों के अन्यायपूर्ण सामाजिक अत्याचार को निर्मूल करने में दृढ़-संकल्प हो डटे हुए थे — उन प्रजा को क्षत्रियगण अपने धर्म-संगत खाद्य के रूप में देखा करते थे — और दूसरी ओर, भारत की एकमात्र शक्तिसम्पन्न क्षत्रिय जाति ने जनता को ब्राह्मणों के आध्यात्मिक अत्याचार से बचाने तथा उनके क्रमवर्धमान नये नये क्रियाकाण्डरूप बन्धनों से उसको छुड़ाने के लिए कमर कसी थी। इसमें क्षत्रियों को कुछ परिमाण में सफलता भी मिली थी।

दोनों जातियों का यह संघर्ष अति प्राचीन काल से आरम्भ हुआ था। समस्त श्रुतियों में यह स्पष्ट रूप से प्रकट है। कुछ समय के लिए यह विरोध कम हो गया जब क्षत्रियों तथा ज्ञानकाण्ड के नेता श्रीकृष्ण ने यह दिखला दिया कि दोनों विरुद्ध दलों का मेल किस तरह हो सकता है। उसके परिणामस्वरूप निःसृत हुई गीता की शिक्षा —जो दर्शन, उदारता एवं धर्म का सारस्वरूप है। किन्तु संघर्ष का कारण तब भी विद्यमान था, अतः उसका परिणाम अनिवार्य था। निर्धन एवं अशिक्षित जनता पर प्रभुत्व स्थापित करने की उच्चाकांक्षा इन दोनों जातियों के मस्तिष्क में वर्तमान थी अतः पुनः घोर संघर्ष की उत्पत्ति हुई। हमें उस समय का जो कुछ थोड़ा सा साहित्य

उपलब्ध है, वह प्राचीन काल के उसी प्रबल संघर्ष की क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। किन्तु अन्त में क्षत्रियों की विजय हुई, ज्ञान की जीत हुई, स्वाधीनता की जीत हुई; कर्मकाण्ड की प्रधानता अब और न रह गई तथा कर्मकाण्ड का अधिकांश हमेशा के लिए नष्ट हो गया।

यह वही उत्थान था जिसे हम बौद्ध-संस्कार के नाम से अभिहित करते हैं। धर्म की ओर से देखने पर यह उत्थान कर्मकाण्ड के हाथों से मुक्ति का सूचक है, और राजनीति के दृष्टिकोण से यह क्षत्रियों के द्वारा ब्राह्मणों के प्राधान्य का विनाश सूचित करता है।

यह एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत में जिन दो सर्वश्रेष्ठ पुरुषों ने जन्म ग्रहण किया था, वे दोनों ही क्षत्रिय थे। वे कौन थे?—वे थे कृष्ण और बुद्ध। और यह उससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों ही अवतारों ने लिंग और जाति भेद को न मानकर सबके लिए ज्ञान का द्वार उन्मुक्त कर दिया था।

बौद्ध धर्म में अद्भुत नैतिक बल विद्यमान रहने पर भी उसकी अधिकतर शक्ति ध्वंस कार्य में ही नियोजित की जाने के कारण उसे अपनी जन्मभूमि में ही अपना विनाश देखना पड़ा, एवं उसका जो कुछ शेष रहा वह जिन कुसंस्कारों तथा क्रियाकाण्डों के निवारण के लिए नियोजित किया गया था, उनसे सौगुना अधिक भयानक कुसंस्कारों और क्रियाकाण्डों में फैल गया। यद्यपि आंशिक रूप में वह वैदिक पशुबलि निवारण करने में सफल हुआ, पर उसने समस्त देश

आर्यावर्त के उन ब्राह्मणों और क्षत्रियों का क्या हुआ? उनका नाम हमेशा के लिए मिट गया, इधर उधर ब्राह्मणत्व एवं क्षत्रियत्व पर अभिमान करनेवाली केवल कुछ मिश्रित जातियाँ ही शेष रह गईं, और इन जातियों के इस प्रकार अहंकार तथा आत्मश्लाघापूर्ण वाक्यों के कहने पर भी कि 'इस देश (ब्रह्मावर्त या ब्रह्मर्षि देश) में पैदा हुए ब्राह्मणों से ही संसार के सभी मनुष्य चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करेंगे,'* इन लोगों को दीनवेष में दाक्षिणात्यों के पदप्रान्त में बैठकर विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी। इसका परिणाम हुआ भारत में वेदों का पुनरभ्युदय, —वेदान्त का ऐसा प्रबल पुनरुत्थान जैसा भारत ने और कभी नहीं देखा था; यहाँ तक कि गृहस्थाश्रमी भी आरण्यकों के अध्ययन में संलग्न हो गए।

बौद्ध धर्म के प्रचार में क्षत्रियगण ही वास्तव में नेता रहे थे तथा बड़ी संख्या में उन्होंने बौद्धधर्म स्वीकार किया था। संस्कार तथा इस प्रकार अन्य धर्म-ग्रहण के उत्साह में संस्कृत भाषा लोगों द्वारा उपेक्षित होकर लोक-प्रचलित भाषाओं की चर्चा प्रबल रूप से शुरू हो गई थी, और अधिकांश क्षत्रिय वैदिक साहित्य एवं संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र से बाहर हो गए थे। अतएव दाक्षिणात्यों से यह जो संस्कार-तरंग उत्थित हुई उससे कुछ सीमा तक केवल ब्राह्मणों का ही उपकार हुआ, पर भारत के शेष लोगों के पैरों में उसने पहले से भी अधिक शृंखला डाल दी।

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ — मनु

क्षत्रियगण सदा से ही भारत का मेरुदण्ड रहे हैं, अतएव वे ही विज्ञान और स्वतन्त्रता के सनातन रक्षक हैं। देश से कुसंस्कारों को हटा देने के लिए चिरकाल से ही उनकी वज्रवाणी प्रतिध्वनित हुई है, और भारतवर्ष के इतिहास के आदि से अन्त तक ब्राह्मणों के अत्याचार से साधारण जनता की रक्षा करने के लिए वे स्वयं एक अभेद्य दीवार की भाँति खड़े रहे हैं।

जब उनमें से अधिकांश घोर अज्ञानता में निमग्न हो गये, और शेष लोगों ने जब मध्यएशिया की जंगली जातियों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर भारत में पुरोहितों की शक्ति दबा करने के लिए तलवार हाथ में ली, तब तो भारत के पाप का प्याला लबालब भर गया और भारतभूमि एकदम नीचे डूब गई, —और इससे इसका उद्धार उस समय तक नहीं होगा जब तक कि क्षत्रियगण स्वयं न जागेंगे तथा अपने को मुक्त कर शेष जातियों के पैरों से जंजीरों को न खोल देंगे। पौरोहित्य ही भारत की अधोगति का मूल कारण है। मनुष्य अपने भाई को पतित बनाकर क्या स्वयं पतित होने से बच सकता है?

राजन्, स्मरण रखिये, आपके पूर्वजों द्वारा आविष्कृत सत्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्य है —इस ब्रह्माण्ड का एकत्व। क्या कोई व्यक्ति स्वयं का किसी प्रकार अनिष्ट किये बिना दूसरों को हानि पहुँचा सकता है? ब्राह्मण और क्षत्रियों के ये ही अत्याचार चक्रवृद्धि ब्याज के नियमानुसार पुञ्जीभूत हो अब स्वयं उन्हीं के सिर पर पतित हुए हैं, एवं यह हजारों

कर्म की पराधीनता और अवनति निश्चय ही उन्हीं के कर्मों के अनिवार्य फल का भोग है। आपके एक पूर्वज ने जिन्हें लोग ईश्वर का अवतार समझते हैं, कहा था, "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः" अर्थात् "जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है उन्होंने जीवित दशा में ही संसार पर जय-लाभ कर लिया है।" इस धर्मों का यही निचोड़ है। तब क्या उनका यह वाक्य अर्थहीन प्रलाप के समान है? यदि नहीं है—और हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है—तब तो समस्त सृष्ट जगत् के जन्म लिंगविरहित, यहाँ तक कि गुणनिर्विशेष इस सम्पूर्ण साम्य के विरुद्ध कोई भी चेष्टा भयंकर भ्रमपूर्ण है, और जब तक मानव इस साम्य-ज्ञान को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

अतएव, हे राजन्, आप वेदान्त के उपदेशों का पालन कीजिए—किसी अमुक-तमुक भाष्यकार अथवा टीकाकार के अनुसार नहीं, वरन् उसी प्रकार, जिस प्रकार आपके अन्तर्यामी प्रभु आपको समझाते हैं। सर्वोपरि, सर्वभूतों में, समस्त वस्तुओं में इस समदर्शन-रूप महान् उपदेश का पालन कीजिए—सर्वभूतों में उसी एक भगवान को अवस्थित देखिए।

यही मुक्ति का पथ है, वैषम्य ही बन्धन का मार्ग है। कोई व्यक्ति या कोई जाति बाह्य-स्वातन्त्र्य-ज्ञान के बिना बाह्य स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकती, और मानसिक शक्तियों के स्वातन्त्र्य-ज्ञान के बिना मानसिक स्वाधीनता का लाभ भी उसे नहीं हो सकता।

अज्ञान, भेदबुद्धि एवं वासना ये तीनों ही मानव-जाति के दुःख के कारण हैं, और उनमें एक के साथ दूसरे का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अपने आप को अन्य मनुष्यों की अपेक्षा, यहाँ तक कि पशु से भी श्रेष्ठ समझने का किसी को क्या अधिकार है? वास्तव में तो सर्वत्र एक ही वस्तु विराजमान है। "त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी"—"तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो एवं तुम ही कुमारी हो।"

बहुत से लोग कहेंगे, "इस प्रकार सोचना तो सन्यासी को ही शोभा देता है, उनके लिए ही यह ठीक है, किन्तु हम सब तो गृहस्थ हैं।" अवश्य ही, गृहस्थ को दूसरे अनेक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, अतः वह इस साम्य-भाव में इतना स्थिर नहीं रह सकता, परन्तु उन लोगों का आदर्श भी यही होना उचित है, क्योंकि इस समत्व भाव को प्राप्त करना ही सभी समाजों का, समस्त जीवों का एवं समस्त प्रकृति का आदर्श है। पर अफसोस! लोग समझते हैं कि वैषम्य ही समता की प्राप्ति का मार्ग है, मानो अन्याय करते करते वे न्याय के रास्ते पर आ पहुँचेंगे!

यह वैषम्य ही मनुष्य-प्रकृति की घोर दुर्बलता है, मनुष्य जाति के ऊपर अभिशापस्वरूप है तथा समस्त दुःख-कष्टों का मूलस्वरूप है। यही भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सर्वविध बन्धनों का मूल है।

"समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।"

" ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से अवस्थित देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, अतएव परमगति प्राप्त करते हैं।"

इसी एक श्लोक के द्वारा, थोड़े से शब्दों में मुक्ति का सार्वभौमिक उपाय बतलाया गया है।

आप राजपूत लोग ही प्राचीन भारत के गौरव-स्वरूप रहे हैं। आप लोगों की अवनति के साथ ही जातीय अवनति आरम्भ हो गई, और भारत का उत्थान केवल तभी हो सकता है, जब क्षत्रियों के वंशज ब्राह्मणों के वंशजों के साथ समवेत प्रयत्न में कटिबद्ध होंगे — लूटे हुए वैभव और शक्ति का बटवारा करने के लिए नहीं, वरन् अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करने के लिए एवं पूर्वजों की पवित्र निवासभूमि की खोई हुई महिमा के पुनःस्थापन के लिए।

कौन कह सकता है कि यह शुभ मुहूर्त नहीं है? फिर से काल-चक्र घूमकर आ रहा है, एक बार फिर भारत से वही शक्तिप्रवाह निःसृत हो रहा है जो शीघ्र ही समस्त जगत् को प्लावित कर देगा। एक वाणी मुखरित हुई है जिसकी प्रतिध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है एवं जो प्रतिदिन अधिकाधिक शक्ति संग्रह कर रही है, और यह वाणी इसके पहले की सभी वाणियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है क्योंकि यह अपने पूर्ववर्ती उन सभी वाणियों का समष्टिस्वरूप है। जो वाणी एक समय कलकलनादिनी सरस्वती के तीर पर ऋषियों के अन्तस्तल में प्रस्फुटित हुई थी, जिस वाणी ने रजतशुभ्रहिमाच्छादित गिरिराज हिमालय के शिखर शिखर पर प्रतिध्वनित हो कृष्ण, बुद्ध

और चैतन्यदेव में से होते हुए समस्त प्रदेशों में अवरोहण कर समस्त देश को प्लावित कर दिया था, वही वाणी एक बार पुन मुखरित हुई है। एक बार फिर से द्वार खुल गए हैं। आइये, हम सब आलोक-राज्य में प्रवेश करें—द्वार एक बार पुन उन्मुक्त हो गए हैं।

हे मेरे प्रिय रामनद्, आप उसी जाति के वंशधर हैं जो सनातन धर्म का चीवन्त आधार-स्तम्भस्वरूप है एवं जो उस सनातन धर्म की कर्मण्यवद रक्षक और सहायक है, आप ही क्या इससे दूर रहेंगे? मैं जानता हूँ, यह कभी नहीं हो सकता। यह मेरी दृढ़ धारणा है कि आपका ही हाथ सर्वप्रथम फिर से धर्म की सहायता के लिए आगे बढ़ेगा। और जब भी, हे राजा भनिलसिंह, मैं आपके बारे में सोचता हूँ तब यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपमें आपकी वंशगत सर्वपरिचित वैज्ञानिक शिक्षा के साथ ही सब मानवों के प्रति असीम प्रेमयुक्त ऐसे पवित्र चरित्र का सम्मिश्रण हुआ है जिसमे एक साधु भी गौरवान्वित हो सकता है; और जब ऐसे व्यक्ति ही सनातन धर्म के पुनर्गठन के इच्छुक हैं, तब मैं उसके महागौरवशाली पुनरुद्धार में विश्वास रखे बिना नहीं रह सकता। सर्वदा ही आप तथा आपके स्वजनों पर श्रीरामकृष्णदेव के आशीर्वाद की वर्षा हो, और दूसरों के उपकारार्थ एवं सत्य-प्रचार के लिए आप दीर्घकाल तक जीवित रहें—यही विवेकानन्द की सदैव प्रार्थना है।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३ श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में — अनु. पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रथम भाग (तृतीय संस्करण) — मूल्य ६)
द्वितीय भाग — मूल्य ६) तृतीय भाग — मूल्य ७॥)

४-५ श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी) — (तृतीय संस्करण) — दो भागों में प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६ विवेकानन्द-चरित — (विस्तृत जीवनी) — सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, (द्वितीय संस्करण) — मूल्य ६)

७ विवेकानन्दजी के संग में — (वार्तालाप) — शिष्य शरच्चन्द्र द्वि. सं. मूल्य ५॥)

८ परमार्थ प्रसंग — स्वामी विरजानन्द (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द मूल्य ४॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द ३॥)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

९ भारत में विवेकानन्द (द्वि. सं.) ५)
१० ज्ञानयोग (प्र. सं.) २)
११ देववाणी (प्र. सं.) १=)
१२ पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र. सं.) १=)
१३ पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र. सं.) १=)
१४ कर्मविज्ञान (द्वि. सं.) ११=)
१५ कर्मयोग (द्वि. सं.) ११=)
१६ हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) ११)
१७ प्रेमयोग (तृ. सं.) १=)
१८ भक्तियोग (तृ. सं.) १=)
१९ आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ. सं.) ११)
२० परिव्राजक (प्र. सं.) ११)
२१ प्राच्य और पाश्चात्य (प्र. सं.) ११)
२२ महापुरुषों की जीवनगाथायें (द्वि. सं.) ११)
२३ व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र. सं.) १=)
२४ राजयोग (प्र. सं.) १=)
२५ स्वाधीन भारत! जय हो (प्र. सं.) १=)
२६ धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
२७ भारतीय नारी (द्वि. सं.) =)
२८ शिक्षा (द्वि. सं.) =)
२९ शिकागो-वक्तृता (तृ. सं.) [illegible]

१ हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि सं) ॥=)
११ कवितावली (प्र सं) ॥=)
१२ मेरे गुरुदेव (पं सं) ॥=)
१३ भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि सं) ।॥=)
१४ शक्तिदायी विचार (द्वि सं) ॥=)
१५. वर्तमान भारत (च सं) ॥)
१६ मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि सं) ॥)
१७ पवहारी बाबा (द्वि सं) ॥)
१८ मरणोत्तर जीवन (द्वि सं) ॥)
१९ मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (प्र सं) ॥)
४ सरल राजयोग (प्र सं) ।)

४१ मेरी समर-नीति (प्र सं) ।
४२ ईशदूत ईसा (प्र सं) ।
४३ विवेकानन्दजी की कथायें (प्र सं)
४४ विवेकानन्दजी से वार्तालाप (प्र सं.)

---

४५ गीतातत्त्व — स्वामी शारदानन्द (प्र सं) १
४६ वेदा[illegible] — स्वामी शारदानन्द, (प्र सं)
४७ श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र सं) ।

मराठी विभाग

१ २ श्रीरामकृष्ण-चरित्र — प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति)
३ श्रीरामकृष्ण-वचनामृत — (पहिली आवृत्ति)
४ श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा — (तिसरी आवृत्ति)
५ शिकागो-व्याख्याने — (दुसरी आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद
६ माझे गुरुदेव — (दुसरी आवृत्ति) — स्वामी विवेकानंद
७ हिंदु-धर्माचे नव-जागरण — ([illegible]) — [illegible]
८ पवहारी बाबा — (पहिली आ[illegible]
९ कर्मयोग — (पहिली आवृत्ति
१० शिक्षण — (पहिली आवृत्ति)
११ साधु नागमहाशय-च[illegible]